क़िस्त-1

आयतुल्लाहिलउज़्मा सैय्यिदुलउलमा सै० अली नक़ी नक़वी ताबा सराह

(बतारीख़ 11, नवम्बर 1977ई० 9 बजे शब)

क़ुरआने करीम के तीईस्वें पारे में मुख़्तसर तरीन तो नहीं, मगर मुख़्तसर सूरों में ''सूरए ज़िलज़ाल'' तरतीबे क़ुरआनी में सूरए आदियात से पहले है। इसी में की दो आयतें हैं जिनको मैंने उनवाने कलाम क़रार दिया है।

इरशाद हो रहा हैः-

उस दिन गिरोह-गिरोह जमातें इन्सानों की बरआमद होंगी। ताकि उनके आमाल उन्हें दिखाए जाएं, जिसने ज़र्रा भर भी बुरा अमल किया है वह उसे देखेगा।

''आमाल दिखाए जाएंगे'' यानी हर एक के आमाल का अन्जाम उसके सामने आयेगा।

मेरा मौज़ू (टॉपिक) ''इस्लाम दीने अमल है'' इसमें दो शोबे हैंः

एक शोबा दुनियावी मक़ासिद के लिए और दूसरा उख़रवी मक़ासिद के लिए चूँकि मेरे बयान के लिए दो मजलिसें हैं और मौज़ू वसीअ़ है, इसलिए मैं इन दोनों शोबों को दो मजलिसों पर तक़सीम करता हूँ। इस वक़्त पहले शोबे 'अमल' का बयान करना है जो दुनिया से मुताल्लिक़ है।

कोई कह सकता है कि दुनिया से एक आलिमे दीन को क्या मतलब? मगर ये किसी और दीन का आलिम हो तो उस से मुतालबा हो सकता है कि वह दुनिया से मतलब न रखे। लेकिन जो किसी हद तक कहलाता हो ''दीने इस्लाम का आलिम'' उस से ये मुतालबा दुरुस्त न होगा कि वह दुनिया से अलग हो जाए। इस्लाम ने दुनिया को अपने दायरे से बाहर नहीं रखा है तो एक आलिमे इस्लाम क्योंकर तलक़ीन कर सकता है कि दुनिया से मतलब न रखो। अगर कोई ये कहता हो कि हमें दुनिया की ज़रूरत नहीं तो इसका मतलब ये है कि उसे इस्लाम का इल्म नहीं है।

बेशक कलामे अमीरुलमोमिनीन में कसरत से दुनिया की मज़म्मत है मगर वह उस दुनिया की है जो मुक़ाबिले दीन है। वरना हम में से कौन है जो ये कहे कि हमें दुनिया की कामयाबी की ज़रूरत नहीं है?

दुनिया के मफ़ादात क्या हैं? माले दुनिया, इज़्ज़ते दुनिया और औलाद। इनमें सरेदस्त माले दुनिया ही के बारे में अर्ज़ करना है।

कोई इज़हारे ज़ोहदो तक़वा के लिए कहे कि हमें माल की ज़रूरत नहीं है।

मैं कहता हूँ कि अव्वल तो ये सदा ही खोखली है। अगर पैसा मिल रहा हो, फिर कहें हमें ज़रूरत नहीं तो एक बात है। वरना फिर इस्मते बीबी, बेचादरी का मज़मून है। लेकिन अगर वाक़ई ज़हनी तौर पर किसी को ये तसव्वुर हो कि पैसे की ज़रूरत नहीं है तो ये तसव्वुर इस्लाम के नुक़्त-ए-नज़र से दुरुस्त नहीं है अगर पैसे का तसव्वुर न होता तो क़ुरआन में तक़रीबन हर जगह सलात और ज़कात का नाम एक साथ क्यों होता हालांकि वाक़िआ यही है कि जहाँ-जहाँ सलात का ज़िक्र है वहाँ ज़कात का भी ज़िक्र है।

इस्लाम ''दीने अमल'' होने के साथ ''दीने अक़्ल'' है लेहाज़ा साहेबाने अक़्ल ग़ौर करें कि इस

वक़्त हमारा मआशरा क्या है? ज़कात की शर्तों के लेहाज़ से ज़कात हमारे यहाँ कितने आदमियों पर वाजिब है। फ़ीसदी शायद एक हो जिसमें शरायते ज़कात हासिल हों। नमाज़ तो सबको पढ़ना है और ज़क़ात दो एक को देना है तो बलाग़ते क़ुरआनी का तक़ाज़ा ये था कि नमाज़ का हुक्म अगर सौ जगह पर हो तो बस दो एक जगह ज़कात का बयान हो लेकिन क़ुरआन में तक़रीबन हर जगह सलात के साथ ज़कात का हुक्म होना बतलाता है कि क़ुरआन एक ऐसे समाज की तश्कील चाहता है जो मुफ़लिस और क़ल्लाश न हो। ऐसा समाज जिसमें हर फ़र्द पर जैसे नमाज़ वाजिब है उसी तरह ज़कात भी वाजिब हो।

हाँ इस तरक़्क़ीयाफ़्ता और फिर सोशलिज़्म वग़ैरा के तसव्वुरात से मुतास्सिर दौर में कुछ लोग फ़लसफ़-ए-ज़कात ये क़रार देते हैं कि ज़कात का हुक्म तो इस वास्ते है कि पैसे ज़्यादा न होने पाएं। मगर मैं कहता हूँ कि अगर क़ौम के पास पैसे का न होना मद्देनज़र होता तो लेने वालों को क़ौम के अन्दर क्यों महदूद किया जाता। हालांकि मुस्तहेक़्क़ीने ज़कात फ़ुक़रा व मसाकीन में शर्त है कि वह मोमिनीन में से हों। मालूम होता है कि ये मन्ज़ूर नहीं कि क़ौम का रुपया क़ौम के अन्दर से निकले। मगर मतलूब ये है कि पैसा एक जगह मुन्जमिद न हो जाए जैसे ख़ून तमाम जिस्म में गर्दिश करता है उसी तरह पैसा तमाम क़ौम में गर्दिश करता रहे।

फिर कोई कह ले कि पैसे की मुझे ज़रूरत नहीं तो क्या रोटी की भी ज़रूरत नहीं है?

बेशक ये सवाल पैदा होता है कि रोटी ज़रिय-ए-हयात या मक़सदे हयात? अगर रोटी ज़िन्दगी का ज़रिया है तो इसके बाद सोचना होगा कि मक़सदे हयात क्या है? और ज़ाहिर है कि मक़सद का दर्जा ऊँचा होता है। तो अब बलेहाज़े अहमियत तीन दर्जे होंगे। पहले रोटी, दूसरे ज़िन्दगी तीसरे मक़सदे ज़िन्दगी तो जिस तरह रोटी से ज़िन्दगी अहम, उसी तरह ज़िन्दगी से मक़सदे ज़िन्दगी अहम है। जब रोटी ज़िन्दगी की ख़ातिर है तो फिर ऐसी रोटी जिसके खाने से हैज़ा हो जाए, हासिल करने के लायक़ न होगी। और चूँकि ज़िन्दगी से भी अहम उसका मक़सद है तो वह रोटी भी तर्क करने के क़ाबिल न होगी जो मक़सदे हयात को नुक़सान पहुँचाए मसलन वह रोटी जो किसी की जान लेकर मिले या वह रोटी जो बेगुनाहों के घर जलाकर मिले, वह रोटी जो फितना व फ़साद बरपा करके मिले, इसलिए छोड़ने के क़ाबिल होगी कि वह मक़सदे हयात को नुक़सान पहुँचाती है और यहीं से रिज़्क़ में हलाल व हराम का फ़र्क़ पैदा होगा और जब रोटी के निज़ाम के साथ जायज़ व नाजायज़ के इम्तियाज़ (फर्क़) की क़ैद लग जायेगी तो उस रोटी वाले निज़ाम से इस्लाम गले मिल जायेगा।

बहरहाल रोटी की ज़रूरत नाक़ाबिले इन्कार है मगर जिस क़ौम की आदत हो। बग़ैर मेहनत के रोटी मिलने की और ख़्वाहिश यही हो कि बग़ैर मेहनत के रोटी मिल जाए उसके यहाँ ऐसे तसव्वुरात तराश लिये जाते हैं और कभी सही तसव्वुरात का ग़लत इस्तेमाल किया जाता है कि मेहनतो मशक़्क़त करना न पड़े और रोटी मिल जाए चुनानचे मज़हबी हलक़े में सबसे पहले एक तसव्वुर बेअमली को निभाने के लिए सामने लाया जाता है ये कि जो तक़दीर में लिखा है वह मिटता नहीं। मुक़द्दर में फ़ाक़े हैं तो फ़ाक़े करना पड़ेंगे और खाना मिलना है तो मिलकर रहेगा। मेहनत और मशक़्क़त से क्या फ़ायदा?

मैं कहता हूँ कि क्या तक़दीर का मसअला सिर्फ़ रिज़्क़ के मामले में है? अगर आप इस उसूल के क़ायल हैं तो बच्चा ख़ुदा नख़्वास्ता बीमार हो तो डाक्टर के यहाँ न जाईये। अगर ज़िन्दा रहना है तो रहेगा। डाक्टर के यहाँ जाने से क्या फ़ायदा?

अगर कोई मुक़द्दमा अदालत में हो तो किसी वकील के पास क्यों जाइये? अगर तक़दीर में होगा तो मुक़द्दमा जीतियेगा वरना हार जाईयेगा।

मगर डाक्टर के यहाँ जाना, दवा लाना, फिर शीशी को हरकत देकर दवा का मुँह तक पहुँचाना। एक सिलसिला अमल का है जिससे आप बेनियाज़ नहीं हैं। मुक़द्दमे में वकील या बैरिस्टर के यहाँ दौड़े, अदालत के चक्कर लगाए, तमाम ज़राए फ़राहम किये.... ये सब

क्या अमल की मंज़िलों से अलग है। इन सब मंज़िलों से गुज़रने के बाद नतीजे के हुसूल का इन्तिज़ार होता है।

दूर क्यों जाइये। इस वक़्त आप मजलिस में आकर मेरा बयान सुन रहे हैं तो दूर-दराज़ से या यहीं कहीं दूर या क़रीब से, किसी सवारी पर या पैदल रास्ता तै करके आए। ज़्यादा या कम जो दुश्वारी पेश आई उसे टालने की कोशिश की। इसकी क्या ज़रूरत थी। आराम से अपने घर में रहते, तक़दीर में होता तो मजलिस सुन लेते।

ये सब मश्वरे अगर कोई दे और तक़दीर के मसअले को सामने रख कर दे तो आप क़ुबूल न करें बल्कि उस शख़्स को शायद दीवाना कहें और रिज़्क़ के मामले में आप तक़दीर पर शाकिर होकर सई व अमल (कोशिश और काम) से गुरेज़ करें।

हक़ीक़ते अम्र ये है कि बाज़ औक़ात असल तक़दीर यही है कि तुम इलाज करो तो मरीज़ अच्छा हो, तिजारत करो तो नफ़ा हो। हुज़ूरे वाला इन तमाम कोशिशों के बाद भी मक़सद हासिल न हो, तब ये कहने का हक़ है कि हमारी तक़दीर में नहीं था।

अब अगर ये सवाल किया जाए कि दो तरह की तक़दीरें क्यों रखी गयीं? मैं कहता हूँ कि मश्रूत तक़दीर इसलिए रखी कि बेअमली पैदा न हो और कुछ तक़दीरें मुतलक़ इसलिए रखीं कि तुम ख़ुदा को न भूलो और अपने ही को ख़ुदा न समझ लो इसलिए शरीअत ने कहा दवा करो और फिर दुआ भी करो दवा अपने फ़र्ज़ को अदा करने के लिए और दुआ उसकी रहमत को मुतवज्जह करने के लिए।

तक़दीर का अक़ीदा हक़ है मगर ये तसव्वुर कि इस बुनियाद पर बेअमली की ज़िन्दगी हक़ बजानिब क़रार पाई है, बिल्कुल ग़लत है।

एक दूसरा तसव्वुर ये है कि अल्लाह रिज़्क़ का ज़ामिन है। जब अल्लाह ज़ामिन है तो फिर हम मश्क़्क़त क्यों उठायें? ये सवाल इमाम के सामने पेश हुआ जब आप ने किसी से फ़रमाया आख़िर तुम कुछ करते क्यों नहीं? उसने जवाब दिया अल्लाह रिज़्क़ का ज़ामिन है तो हम क्यों मशक़्क़त करें? हज़रत ने फ़रमाया कि अल्लाह ने अपनी ज़िम्मेदारी पूरी कर दी तुमको हाथ और पाँव देकर अब उसकी ज़िम्मेदारी तुम पर है कि तुम अपने रिज़्क़ को उनके ज़रिये हासिल करो।

बेशक हज़रत अली इब्ने अबी तालिब[अ०] की तरफ दो शेअ्र मन्सूब हुए हैं जिनका मतलब ये है कि वह ख़ुदा जो बच्चे को शिकमे मादर में ग़िज़ा पहुँचाता है हमें ग़िज़ा न पहुँचायेगा?

ये अगर मौला का कलाम होता तो ज़रूर ग़ौर तलब था मगर हक़ीक़त ये है कि ये हज़रत का कलाम नहीं है और हक़ीक़त के लेहाज़ से दुरुस्त भी नहीं है इसलिए बच्चे को अल्लाह रिज़्क़ उस वक़्त तक देता है, जब तक अपनी तरफ़ से क़ैदख़ाने में रखता है और जब वह इस दारे दुनिया की खुली फ़ज़ा में आ गया तो अब माँ-बाप का फ़रीज़ा हो जाता है कि वह अपनी ज़िम्मेदारी को पूरा करें और अब इस्तेदलाल का रुख़ पलट जाता है। मैं कहता हूँ कि जो बच्चे को बग़ैर इन्सानी अमल के रिज़्क़ न पहुँचाए वह हम ऐसे हाथ पैर वालों को बग़ैर सई व अमल (कोशिश) रिज़्क़ क्यों देगा?

जानवर तक रिज़्क़ हासिल करने के असबाब फ़राहम करते हैं। जब जानवर बग़ैर सई व अमल के नहीं खाता तो इन्सान बग़ैर सई व अमल के क्योंकर खा सकता है?

बहुत से लोगों का कहना है कि जब हमारे बाप-दादा ने तिजारत नहीं की तो हम ये टके-टके की चीज़ें क्योंकर फ़रोख़्त करें। ये हमारी बेइज़्ज़ती है कि हम फेरी करें या दुकान लगाएं। जो ये कहते हैं, वह सुनें कि आपके बाप-दादा ने तो कभी फ़ाक़े नहीं किये थे। ये हुज़ूरेवाला क्यों फ़ाक़ा करते हैं।

बाप-दादा ने ऐसा नहीं किया था, इसलिए कि उनके पास मुफ़्त की दौलत थी, उन्हें ज़रूरत न थी अब आपको ज़रूरत है तो आपको ये सब करना चाहिए।

अब दूसरों की ज़हनियत और उनके तर्ज़े अमल की ग़लती ये है कि कल तक वह मिर्ज़ा साहब, मीर साहब, ख़ान साहब वग़ैरा कहलाते थे और जब से वह तरकारी बेचने लगे, बिस्कुट फ़रोख़्त करने लगे तो अब तरकारी वाले और बिस्कुट वाले कहलाने लगे, मीर

साहिबी और ख़ान साहिबी ख़त्म हो गई। आख़िर उनके तर्ज़ेअमल में ये तबदीली क्यों पैदा हुई? उनका ये अमल उनकी ग़लत ज़हनियत का तर्जुमान है। लेकिन उन्हें इसका बुरा न मानना चाहिए। मैं तो कहता हूँ कि जब तक वह मीर साहब और मिर्ज़ा साहब कहलाते थे, वह एक वस्फ़े इज़ाफ़ी का इज़हार था। और अब जो उनके कारोबार के लेहाज़ से उनको पुकारा जा रहा है तो ये जौहरे ज़ाती का एलान है जिस पर उन्हें फ़ख़्र करना चाहिए।

हमारे रहनुमायाने दीन ने अपने अमल से हमारे तसव्वुरात की इस्लाह के लिए सरमाया फ़राहम कर दिया है। हम ज़्यादा तक़दीर के क़ायल या रसूले ख़ुदा[स०] और अमीरुलमोमिनीन[अ०]? हम ख़ुदा के ज़ामिने रिज़्क़ होने पर ज़्यादा बाईमान या ये लोग? हम ज़्यादा हक़ीक़ी मेयारे तवक्कुल के जानने वाले या ये हज़रात?

पैग़म्बरे ख़ुदा[स०] ने रिसालत से पहले अपना तार्रुफ़ दुनिया से बहैसियत ताजिर के कराया..... तिजारत की इससे बड़ी बलन्दी क्या होगी कि बरबिनाए वाक़िआ ये कहा जा सकता है कि एक ताजिर को अल्लाह ने ख़ातमुल मुरसलीन[स०] बनाया। अब अगर कोई आदमी ताजिर को हक़ीर समझे तो बात कहाँ जाती है?

अगर तिजारत बुरी चीज़ होती तो ख़ालिक़ बलन्द हक़ीक़तों की ताबीर तिजारत से न करता मसलन इरशाद होता है:

''ऐ ईमान वालों! क्या मैं तुम्हें बताऊँ वह तिजारत जो तुम्हें दर्दनाक अज़ाब से नजात दे।''

''वह ये कि अल्लाह और उसके पैग़म्बर पर ईमान लाओ और अल्लाह की राह में अपने जान व माल से जेहाद करो।''

महसूस होता है कि मुख़ातब वह जमाअत है जो तिजारत पेशा है यहाँ तक कि शोहदा-ए-राहे ख़ुदा को मैदाने जंग में जो रफ़अत दी जा रही है वह यूँ कि

''अल्लाह ने मोल लिया मोमिनीन से उनके जान व माल को इस क़ीमत पर कि उनके लिए जन्नत है।''

याद रखना चाहिए कि क़ीमत वह होती है जिसकी नज़रे ख़रीदार में मालियत हो। ये आम मोमिनीन थे जिनका मुन्तहाए नज़र जन्नत है। उनके नुफ़ूस की क़ीमत जन्नत हो गई। लेकिन अगर कोई ऐसा बलन्द नज़र बन्दा हो कि वह बारगाहे इलाही में कहता रहा हो:

''मैंने तेरी इबादत तेरी जन्नत की लालच में नहीं की, न तेरी उस आग के डर से की मगर मैंने तुझको इबादत का हक़दार पाया इसलिए तेरी इबादत की।''

क्या उबूदियत की नियाज़मन्दी में इतनी बेनियाज़ी की शान कभी तसव्वुर में आ सकती थी। बहरहाल इस से पता चल गया कि उस बन्दे की नज़र में जन्नत कोई क़ीमत नहीं रखती तो अब उसके नफ़्स की क़ीमत जन्नत कहाँ हो सकती है? इसलिए क़ुरआन जब उसकी क़ीमत बतायेगा तो जन्नत नहीं बल्कि रिज़ाए इलाही जिसका जन्नत एक समरा (फल) है।

तो ये इतनी बड़ी क़ुरबानी थी कि ख़ैबर और ख़न्दक़ का जेहाद भी जो मुतहर्रिक अन्दाज़ का था इतना अज़ीम शायद न था। जितनी कि ये साकित व साकिन क़ुरबानी थी कि बिस्तरे रसूल[स०] पर फ़िदय-ए-रसूल[स०] बने रात भर सोते रहे यानी अगर खुले हुए अली[अ०] होते तो इतने ख़तरे में न थे जितने रसूल[स०] बन के लेटने से ख़तरे में थे। हमें मालूम है कि भेस बदला जाता है मगर उमूमन भेस वह इख़्तियार किया जाता है जो ख़तरे से दूर हो मर्द औरत का लिबास पहन कर ख़तरे से निकला करते हैं मगर ये नया भेस बदलना था कि जिसकी जान लेने का मन्सूबा हो उसका भेस इख़्तियार किया जाए तो अली[अ०] ने ये इतनी बड़ी क़ुरबानी बहैसियते ताजिर की और बैनामा ख़ालिक़ ने क़ुरआन में उतार दिया मगर ये नजात (तिजारत) नक़ाबपोश तिजारत थी जिसमें ख़रीदार ख़ुदा था।

अब वह वक़्त है जब अली[अ०] गोशानशीन नहीं बल्कि ख़िलाफ़ते ज़ाहिरी की मसनद पर हैं। मीसमे तम्मार की दुकान है और अली बैठे ख़ुरमे तौल-तौल कर ग्राहकों को दे रहे हैं।

अब बताइये क्या तिजारत बुरी चीज़ है? क्या मेहनतो मशक़्क़त करने से शराफ़ते ख़ानदानी जाती

रहती है?

हमारे छठे इमाम जाफ़र सादिक़[अ॰] एक बाग़ की दीवार को अपने हाथ से ऊँचा कर रहे हैं। असहाब कहते हैं: "मौला! हम दीवार बना दें" फ़रमाते हैं नहीं मैं अपने क़ुव्वते बाज़ू से अपना रिज़्क़ हासिल करना चाहता हूँ।

दोपहर में बाज़ार की तरफ़ जा रहे हैं। जिस्म तमाम पसीने से शराबोर है, एक परहेज़गारी का दावा करने वाले ने पूछा कहाँ जा रहे हैं। फरमाया बाज़ार जा रहा हूँ उन्होंने कहा आप फ़रज़न्दे रसूल[स॰] होकर तलबे दुनिया के लिए जा रहे हैं! क्या आपको इसका अन्देशा नहीं कि इसी हालत में मौत आ जाए जबकि कारे दुनिया में मसरूफ़ हैं। हज़रत ने जवाब दिया: बख़ुदा अगर मुझे इस हालत में मौत आ जाए तो मैं अल्लाह को गवाह करूँगा कि मैं तेरे अहकाम की तामील की हालत में दुनिया से गया हूँ।

एक बार एक जवान बेलचा काँधे पर रखे हुए मस्जिदे नबवी के सामने जा रहा था। हाज़िरुलवक़्त सहाबा में से किसी ने कहा, काश इसकी जवानी राहे ख़ुदा में सर्फ़ होती। रसूल[स॰] ने कहा, तुमने क्योंकर जाना कि इसकी ज़िन्दगी राहे ख़ुदा में सर्फ़ नहीं हो रही है? याद रखो अगर वह पेट पालने के लिए जा रहा है तो उसका ये अमल राहे ख़ुदा में है और अगर अहलो अयाल के लिए रिज़्क़ फ़राहम करने जा रहा है तो ये उसका अमल अल्लाह की राह में है हाँ अगर इस ख़याल से जा रहा है कि पैसा हासिल करके अपने और भाईयों पर बड़कपन जताए तो ये अमल शैतान के लिए है। अब ये जिस चीज़ को अमले शैतान कहा गया है, इसमें दुनियवी कोशिश की ख़ुसूसियत नहीं है नमाज़ पढ़ने में अगर दूसरों पर बड़कपन जताना पेशे नज़र हो तो वह नमाज़ भी फ़ी सबीलिल्लाह नहीं है।

बाज़ मज़ाहिब में मशक़्क़त उठाना और अपने को अज़िय्यत पहुँचाना ख़ुद इबादत है। मसलन हाथ उठाये रखना और इस तरह उसे ख़ुश्क कर देना। कई-कई दिन खड़े रहना जिससे पैरों पर वरम आ जाए या और तरह-तरह से जिस्मानी आज़ा को अज़िय्यत देना। तख़्ते पर जिसमें मेख़ें गड़ी हुई हों, बरहना जिस्म को मोअल्लक़ रखना, मगर इस्लाम दीने अमल है। दीने अज़िय्यत नहीं। हाथ ख़ुश्क कर लिया तो हाथ किसने दिया था? अल्लाह ने। और किसी मक़सद के लिए दिया था तो जब हाथ अता हुआ था हाँ बेशक "आमाल में सबसे ज़्यादा अफ़ज़ल वह है जिसमें ज़्यादा मशक़्क़त हो" इसका मतलब ये है कि इस्लाम में मशक़्क़त बा मक़सद होना चाहिए। इबादत के लेहाज़ से फ़ज़ीलत उस काम की है जिसके लिए मशक़्क़त उठाई जा रही है। ख़ुद मशक़्क़त या अज़िय्यत उठाना कोई काम नहीं और न वह ख़ुद कोई बलन्द मक़सद है मगर दूसरों के यहाँ ख़ुद मशक़्क़त या अज़िय्यत उठाना इबादत है। इसी तरह जान देना हमारे यहाँ कोई चीज़ नहीं है।

फ़ीसबीलिल्लाह जान देना इबादत है इसे कहा गया है- "जो अल्लाह की राह में क़त्ल हुए हैं उन्हें मुर्दा न समझो" हम इसकी ताबीर करते हैं हयाते शोहदा से मगर क़ुरआन में हयाते शोहदा के ज़िक्र में लफ़्ज़ शोहदा नहीं है बल्कि मेयारे शोहदा बताया है। जो क़त्ल हुआ अल्लाह की राह कौन जाने? मंज़िल माद्दी हो तो रास्ता माद्दी होगा। ये है अल्लाह का रास्ता, अब रास्ता पहचानने वाला वही होगा जो मंज़िल पहचानने वाला हो लेहाज़ा जो अल्लाह की मारफ़ते कामिल रखता हो वही उसकी राह का समझने वाला हो सकता है। इसीलिए बग़ैर इज़्ने मासूम जो हो वह जंग होगी मगर जेहाद न होगा।

अगर ख़ानदानी हमिय्यत पर जान दी तो वह अल्लाह के लिए नहीं है। उसका मुआवज़ा ख़ानदान से लेना चाहिए। अगर हमिय्यते क़ौमी के लिए जान दी तो ये अल्लाह की राह में नहीं है। क़ौम से उसका सिला मिलना चाहिए। सिर्फ़ जोश में कोई कारनामा हुआ तो वह अल्लाह की राह में नहीं है।

पैग़म्बरे ख़ुदा[स॰] के ज़माने में ओसामा ने एक काफिर पर वार किया उसने तलवार की ज़द पर आकर कलमा पढ़ दिया मगर उनका हाथ न रुका और उसे क़त्ल कर दिया। हज़रत[स॰] ने जब सवाल किया तो उन्होंने कहा कि दिल से उसने कलमा नहीं पढ़ा था

बल्कि जान के ख़ौफ़ से पढ़ा था। आपने फ़रमायाः ''क्या तुम ने उसका दिल शगाफ़्ता करके करके देखा था। मालूम हुआ कि हर क़दम पर होश रखने की ज़रूरत है, जोश से काम नहीं चलता।

ग़रज़ बात तो कारोबार और तलबे मआश की थी। अब मैं कुतुबे रिजाल का हवाला दूँगा। अस्हाबे अइम्मा ये दौरे मासूमीन के हमारे उलमा थे। इनमें से किसी के नाम के साथ तहान (पीसने वाला), किसी के नाम के साथ तम्मार (खुरमे बेचने वाला) किसी के नाम के साथ जम्माल (ऊँटों की सारबानी करने वाला) किसी के नाम के साथ तब्बान (घाँस वग़ैरा फ़रोख़्त करने वाला) कोई दहहान (घी-तेल बेचने वाला) इससे ज़ाहिर है कि मेहनतो मशक़्क़त इज़्ज़त के ख़िलाफ़ नहीं।

(बाक़ी आइन्दा)